निजी (Private) और सार्वजनिक (Public) पर कुछ असम्बद्ध विचार

अर्जुन जयदेव

मैं 1990 के दशक में अपने ग्रेजुएट स्कूल की पढ़ाई करने अमेरिका गया। युवा स्नातक विद्यार्थियों के अनुभव अक्सर एक से होते हैं–उन सबको एक–सी कक्षाएँ प्रेरित करती हैं, जीवन के बारे में उनकी चिन्ताएँ एक–सी होती हैं, उनकी जांबाजी एक–सी होती है और वे उनका सामना भी एक जैसे तरीके से ही करते हैं। मेरे साथी विद्यार्थी कनाडा, ब्रिटेन, चीन, यूरोप, कोरिया, तुर्की और अमेरिका के थे। उन भेंटों और मुलाकातों में जो अमित ऊर्जा और जीवन शक्ति फूटकर निकली, वह एक दशक के बाद आज भी मेरे जीवन में प्रतिध्वनित होती रहती है। जीवन का सामना करने के लिए मैं भी उतना ही तैयार था जितने कि वे लोग थे। कुछ सालों बाद उनमें से एक मित्र से बात करते समय मुझे एहसास हुआ कि उनमें और मुझमें एक गहरा संरचनात्मक अन्तर था (लेकिन अपने कार्य और जीवन में यह अन्तर बिल्कुल नजर नहीं आता था)। और यह अन्तर था– वे सब पब्लिक स्कूलों में पढ़े हुए थे और मैं, लगभग सभी दक्षिण एशियाई लोगों की तरह निजी स्कूल में पढ़कर आया था। फिर यूँ हुआ कि मैंने अपनी सहपाठिनी से विवाह कर लिया जो जीवन भर, किण्डरगार्टन से लेकर पीएच.डी. तक, सार्वजनिक प्रणाली में ही पढ़ी थी।

कई सालों बाद, मेरा बेटा अमेरिका के ऐसे स्कूल में दाखिल हुआ जो सार्वजनिक व्यवस्था वाला था। यह स्कूल सबसे 'मुश्किल' स्कूल के रूप में कुख्यात था। मेरे बेटे को पहले साल कई चुनौतियों का सामना करना पड़ा। लेकिन मुझे कभी ऐसा महसूस नहीं हुआ वह स्कूल या यूँ कहना अधिक सही होगा कि उस स्कूल के लोग मेरे बेटे को शिक्षा प्रदान करने में असफल रहे थे। शिक्षक प्यार करते थे, दयालु थे, अपने कार्य में प्रवृत्त थे और शैक्षणिक दृष्टि से प्रबुद्ध थे। वे विद्यार्थियों के साथ उतने ही प्यार और सरोकार के साथ पेश आते थे जितने प्यार और सरोकार के साथ मेरे शिक्षक दशकों पहले मेरे साथ पेश आते थे और यह बात मुझे बखूबी याद है।

अमेरिका और भारत में निजी और सार्वजनिक स्कूल के बारे में चल रही गरमागरम बहस के आलोक में जब मैं इन तथ्यों के बारे में सोचता हूँ तो लगता है कि क्या इस बात को लेकर सार्वजनिक/निजी के विरोधाभास की यह सनक ठीक है कि शैक्षिक परिणामों में क्या हासिल किया जा सकता है? मेरे मन की, बिना किसी शोध वाली सहज प्रवृत्ति यह है कि शिक्षा के लिए एक ऐसा समुदाय जिम्मेदार है जो अपने कार्य में संलग्न है, योग्य है और अनुक्रियाशील है और यह समुदाय मतभेदों से निपटने के लिए लचीला और सशक्त है। जिस पब्लिक स्कूल में मेरा बेटा जाता था, वहाँ माता–पिता स्कूल से जुड़े हुए थे, सहिष्णु थे और शिक्षकों के समर्थक थे। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि उनमें सामाजिक अपनत्व और सामुदायिक क्षमता की भावना थी। हालाँकि वहाँ का परिवेश जातीयता मिश्रित पड़ोस था लेकिन उसमें बच्चों के लिए सामूहिक जिम्मेदारी का सच्चा एहसास था।

तो फिर भारत में यह बात पूरी तरह से क्यों नहीं दोहराई गई? इसके लिए शायद इस प्रकार का व्यापक दृष्टिकोण लिया जा सकता है कि यह भारतीय समाज की विशेषता है सिर्फ भारतीय शिक्षा प्रणाली नहीं। सम्भव है कि इसका कारण हमारी सामाजिक सामूहिकता की भावना और देशीय व अधूरी आधुनिकता है। समावेशिता की यह कमी सिर्फ शिक्षा के क्षेत्र में ही नहीं महसूस की जा रही। हम कई क्षेत्रों में सार्वजनिक प्रावधान में पीछे हैं। जिस तरीके से व्यक्ति 'पब्लिक' की कल्पना करते हैं, उनके साथ अन्तःक्रिया करते हैं और उनके साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं, वह सामाजिक विज्ञान में पड़ताल के मूल क्षेत्र का निर्माण करता है। ये प्रश्न और कहीं भी इतने जटिल, विविध और रोचक नहीं हैं जितने कि भारतीय सन्दर्भ में हैं।

यह दावा अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है कि भारत में समानता की धारणा को सामूहिकता की भावना के रूप में नहीं समझा जाता। नब्बे के दशक में आई लोकतांत्रिक लहर के बावजूद, जिसने बाद में हाशिए पर डाले गए लोगों के लिए एक राजनीतिक आधार प्रदान किया, इस विचार को जरा सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है कि हम (मेरा

मतलब है मध्यम वर्ग) अपने पूरे समाज के लिए सामूहिक रूप से जिम्मेदार हो सकते हैं और हमें जिम्मेदार होना भी चाहिए। आधारभूत न्यूनतम गुणवत्तावाली बुनियादी मूल सुविधाएँ, सार्वजनिक बुनियादी ढाँचे और प्रशासन मुहैया कराने में समाज राज्य की संयुक्त विफलताएँ हमारी इन धारणाओं को बाधित करती रहती हैं कि क्या कुछ सम्भव है (इसीलिए समय–समय पर 'सुशासन' के लिए की जाने वाली अपीलें इतनी आकर्षक हैं)। साथ ही जिस समुदाय के प्रति हमारे कर्तव्य हैं उसकी सीमाएँ सीमित हो जाती हैं। इसलिए हर किसी के लिए 'व्यक्ति होने' की समानता वाली धारणा धुंधली ही रहती है। इसे दूसरी तरह से भी कहा जा सकता है कि अगर हमारी सामूहिक पहचान का प्रमुख (और शायद एकमात्र) बिन्दु बॉलीवुड और क्रिकेट तक सीमित रहता है (जिसका कि हम जश्न मनाते हैं), तो यह समानुभूति के लिए वाकई बहुत कमजोर आधार है।

यह तर्क, यूजन वेबर को क्षति पहुँचाने के लिए, 'किसानों को भारतीय बनाने' वाला तर्क नहीं है। आज के अपेक्षाकृत समरूप यूरोपीय राज्यों में पब्लिक की रचना रणनीतियों के दो सेटों पर आधारित थी : पहली सदोष संजातीय शोधन, हिंसक सीमा समायोजन और अल्पसंख्यकों का बलात आत्मसात्करण और, दूसरी एक ठोस प्रयास के माध्यम से राज्य क्षमता और राष्ट्रीय पहचान का निर्माण करके और जमींदारों तथा अन्य सामन्ती अभिजात वर्ग से छुटकारा पाकर। (first, through vicious ethnic cleansing, violent boundary adjustments and forced assimilation of minorities, and, second through a concerted effort at building state capacity, national identity and getting rid of landlords and other feudal elite.) अब तक हम दूसरे उपागम में थोड़ी प्रगति करने में कामयाब रहे हैं लेकिन पहली रणनीति को पूरी तरह से अपना नहीं पाए हैं। अगर पब्लिक को व्यावर्तकतावादी (exclusivist) आधार पर बनाया जाना है, तो यह वांछित नहीं है, विशेष रूप से हमारी वर्तमान शासन व्यवस्था को देखते हुए, जो बहुसंख्यकवाद की बदतरीन ज्यादतियों के बहुत नजदीक है।

तो फिर हम शिक्षा जैसी सामूहिक सम्पत्ति के प्रावधान और उसे समर्थन देने वाली पब्लिक काल्पनिकता के बारे में कैसे सोच सकते हैं? पिछले प्रयासों में मिली कम सफलता और वर्तमान समय की प्रचलित रीतियों में इसे जिस तरह से बढ़ावा दिया जा सकता है–उन्हें देखते हुए यह एक चुनौती है। मुझे यकीनी तौर पर तो यह नहीं मालूम कि कौन–सी ठोस नीतियों का समर्थन करना चाहिए, लेकिन कुछ बातें स्पष्ट लग रही हैं। यह धारणा गलत है कि चूँकि राज्य प्रावधान शिक्षा और अन्य क्षेत्रों में विफल हो गया है, इसलिए निजीकरण एकमात्र रास्ता है। लेकिन इस गलत धारणा को एक अकाट्य (अगर राजनैतिक रूप से गलत है) तर्क के रूप में देखा जाने लगा है। हमारे पास इस बात के बहुत सारे सबूत हैं कि वास्तव में ऐसा नहीं है और जैसा कि मेरे साथी स्नातक विद्यार्थियों ने मुझे सिखाया, लोगों को प्रबुद्ध, योग्य और कार्यधर्मी बनाने में सार्वजनिक शिक्षा कोई रुकावट नहीं डालती।

इसका यह मतलब नहीं कि हम भारत में सार्वजनिक शिक्षा और स्कूल की अनेकानेक कमजोरियों को घटाकर पेश कर रहे हैं, हम तो सिर्फ यह कहना चाहते हैं कि तुलना करते समय शायद समान चीजों की तुलना नहीं की जा रही। भारत में मध्यम वर्ग जिस हद तक बेहतर स्कूलों में मानव और ढाँचागत संसाधनों के लिए पैसा खर्च कर सकता है, निश्चित ही उनके बच्चों को बेहतर शिक्षा प्रदान की जाएगी। लेकिन जब समान की तुलना समान से की जाए तो निजी स्कूल पब्लिक स्कूलों की तुलना में बेहतर प्रदर्शन नहीं करते। विशेष रूप से यह बात कम फीस लेने वाले निजी स्कूलों में नजर आती है, चाहे आप आन्ध्र प्रदेश (मुरलीधरन और सुन्दरम, 2015, करोपाडी, 2015) में हाल ही के रेंडम परीक्षण को देखें या प्राची श्रीवास्तव के अधिक व्यापक कार्य को देखें (समीक्षा के लिए श्रीवास्तव, 2013 देखिए)। स्कूलों में, समुदाय के जुड़ाव और कुल संसाधनों को लेकर अधिक प्रसंगोचित अन्तर दिखाई देंगे।

कानूनी सिद्धान्तकार Roberto Unger ने 'लोकतांत्रिक प्रयोगवाद' की बात कही है, जिसका अर्थ है कि मानव सामाजिक संगठन को कठोर और पूर्व निर्धारित संस्थागत व्यवस्था जैसे राज्य और निजी क्षेत्र तक सीमित नहीं किया जाना चाहिए वरन प्रयोग और संशोधन के लिए मुक्त छोड़ देना चाहिए। भारत में इस तरह के दृष्टिकोण के लिए अनन्त सम्भावनाएँ हैं। संस्थागत और पाठ्यक्रम संगठन तथा अभ्यास के ऐसे बहुत सारे रूपों की कल्पना की जा सकती है जो शिक्षा के मौलिक मानवीय उद्देश्यों की पूर्ति कर सकते हों। वास्तव में ऐसे कई प्रयोग हो भी रहे हैं फिर चाहे वह आर.टी.ई. जैसी सामाजिक नीतियों के माध्यम से हों या लोकविद्या जैसे विकल्पों के द्वारा। सभी स्थितियों में ऐसे लोगों की जरूरत है जो प्रतिबद्ध

हों और कार्यधर्मी हों और जो युवा वर्ग को शिक्षित करने के इन प्रयोगों को इस रूप में देखते हों कि यह पूरे समुदाय की जिम्मेदारी है।

ग्रेजुएट स्कूल के उन्हीं प्रारम्भिक वर्षों के दौरान मैंने इतालवी बुद्धिजीवी Antonio Gramsci द्वारा लिखा यह उद्धरण पढ़ा : 'कई बार मैं यह सोचता हूँ कि जब मन में किसी के लिए प्रगाढ़ भावनाएँ न हों, यहाँ तक कि अपने माता–पिता के लिए भी ऐसी भावनाएँ न हों तो क्या लोगों के समूह के साथ सम्बन्ध बनाना सम्भव है, क्या समष्टि का भाव सम्भव है जब व्यक्ति को स्वयं अन्य मानवों द्वारा गहरा प्रेम न मिला हो।' (Fiori 1965 के हवाले से)। यह उद्धरण पिछले कई वर्षों से मेरे साथ बना हुआ है और मेरे विचारों को संक्षेप में प्रस्तुत करने लिए उपयुक्त लगता है। अगर पब्लिक के वास्तविक और सार्थक भाव का सृजन करना है तो इसकी शुरुआत प्रेम और दूसरों की परवाह करने की भावना से होनी चाहिए। शिक्षा को भी इसी उद्देश्य की प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए। यह बात गौण है कि यह उद्देश्य प्राइवेट से पूरा होगा या पब्लिक से।

References:

1. Fiori G (1965) 'Antonio Gramsci: Life of a Revolutionary (1965)'
2. Karopady, DD (2014) 'Does School Choice Help Rural Children from Disadvantaged Sections? Evidence from Longitudinal Research in Andhra Pradesh'
3. Muralidharan, K and Sundaraman, V (2015). 'The Aggregate Effect of School Choice: Evidence from a Two-Stage Experiment in India' Quarterly Journal of Economics 2013, Vol. 130, No. 3, pp. 1011-66
4. Srivastava, P ed. (2013). 'Low-fee Private Schooling: aggravating equity or mitigating disadvantage?' Symposium Books Ltd, 2013

अर्जुन जयदेव मैसाचुसेट्स विश्वविद्यालय, बोस्टन में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर हैं और अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, बेंगलुरु की फैकल्टी से भी सम्बद्ध हैं। वे इंस्टिट्यूट ऑफ न्यू इकोनॉमिक थिंकिंग से साथ भी जुड़े हुए हैं। उन्होंने एमहर्स्ट में मैसाचुसेट्स विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में पीएच.डी. की है। उनसे arjun.jayadev@apu.edu.in या arjunjayadev@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।
अनुवाद : नलिनी रावल